प्रभात मत

एफडीआइ पर फैसला

देर से भी आये, दुरुस्त भी न आये...

केंद्रीय कैबिनेट ने एक अहम फैसले में टेलीकॉम और बीमा समेत अर्थव्यवस्था के कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने और उनसे संबंधित नियमों में छूट देने की घोषणा की है. विगत नौ महीने में दूसरी बार सरकार ने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने संबंधी फैसला लेकर यह संदेश देने की कोशिश की है कि वह नीतिगत मामलों में निर्णय लेने में सक्षम है. गिरते हुए रुपये, चालू खाते के बढ़ते घाटे, रसातल की ओर पहुंचती जीडीपी वृद्धि दर और भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेशकों के यकीन के कम होने जैसी मुसीबतों का सामना कर रही सरकार के पास वास्तव में सुधारों के पथ पर आगे बढ़ने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया है. लेकिन, यहां सवाल यह है कि वर्तमान समय में अर्थव्यवस्था जिन चुनौतियों का सामना कर रही है, उनसे निबटने में क्या यह दावं किसी काम का साबित हो सकता है? गहराई से देखें, तो सरकार का यह कदम सुधारों की दिशा में आगे बढ़ने के बजाय 'आगे बढ़ते दिखने' की कोशिश ज्यादा कहा जा सकता है. इस फैसले के समर्थकों का तर्क है कि इससे देश में विदेशी निवेश को आकर्षित किया जा सकेगा. अर्थव्यवस्था में डॉलर का आगमन होगा और रुपये को मजबूती मिलेगी. साथ ही इससे चालू खाते के बढ़ते घाटे को पाटने और रोजगार के मौकों का सृजन करने में भी मदद मिलेगी. इस तर्क में कितना दम है, इसे इस तथ्य से समझा जा सकता है कि बहुब्रांड खुदरा क्षेत्र में विदेशी निवेश को अनुमति देने के नौ महीने बाद तक इस क्षेत्र में एक पैसे का भी निवेश नहीं हुआ था. वैसे भी आगामी चुनावों के मद्देनजर संभावना इसी बात की जतायी जा रही है कि अगली सरकार की तसवीर साफ होने तक विदेशी निवेशक भारतीय बाजारों से दूर रहना ही पसंद करेंगे. सरकार के इस कदम के पीछे आर्थिक तर्क से ज्यादा राजनीतिक मजबूरी का हाथ नजर आता है. इसका लक्ष्य एक हद तक मतदाताओं की नजरों में 'सरकार की साख' की बहाल करना है. आर्थिक मोर्चे पर यूपीए-2 सरकार का प्रदर्शन बेहद निराशाजनक रहा है. तमाम संकेतक इसकी गवाही देते हैं. 2009 में जब कांग्रेस पार्टी चुनाव में उतरी थी, तब सुदृढ़ अर्थव्यवस्था उसकी सबसे बड़ी ताकत थी. इसकी बदौलत ही वह मनरेगा जैसे कार्यक्रमों को शुरू करने का साहस कर पायी थी, जिसका फायदा उसे चुनावों में भी हुआ था. लेकिन 2014 के चुनावों से ठीक पहले उसके पास एक औंधे मुंह गिरी अर्थव्यवस्था है, जो उसकी नाकामियों की सूची को और बड़ा बना रही है. इस फैसले के लिए यही कहा जा सकता है- देर से भी आये, दुरुस्त भी न आये.

मिड-डे मील से मौतें

कड़े फैसले लेने का वक्त है यह

मिड-डे मील का विचार देश में बहुत पुराना है. 1925 में सबसे पहले मद्रास म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन ने अपने स्कूलों में दोपहर का भोजन देने का निर्णय लिया. वैसे इसे पूरे देश में 1995 में लागू किया गया. समय-समय पर इस कार्यक्रम की सफलता के लिए संशोधन किये जाते रहे, पर एक सवाल आज तक बना हुआ है, वह है भोजन की गुणवत्ता. यह गुणवत्ता कभी यूनिसेफ, वर्ल्ड बैंक और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के मानकों के अनुसार तो नहीं ही हुई, खुद अपने देश के साधारण मानकों पर भी खरा नहीं उतरी. भोजन में कंकड़ व कीड़े मिलने की घटनाएं आम हैं, पर मंगलवार को बिहार के सारण के मशरक में जो हुआ, उसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी. यहां एक साथ 22 बच्चों की मौत हो गयी. घटना जितनी बड़ी थी, हमारा सिस्टम उतनी जल्दी सक्रिय नहीं हो पाया. बीमार बच्चों को छपरा सदर अस्पताल तक पहुंचाने में काफी समय लगा, जिस बस से बच्चों को छपरा भेजा गया, रास्ते में उसका डीजल खत्म हो गया. छपरा सदर अस्पताल में भी जितनी तैयारी होनी चाहिए थी, उसका अभाव दिखा. उसके बाद बच्चों को पटना भेजा गया. इसी बीच घटना को लेकर राजनीति भी शुरू हो गयी. राजद व भाजपा ने राज्य सरकार को जिम्मेवार बताते हुए सारण बंद किया. राजनीतिक आरोप-प्रत्यारोप तो एक-दो दिनों में ठंडा पड़ जायेगा, पर मिड-डे मील की गुणवत्ता सुनिश्चित करने, आपात स्थितियों से निबटने में प्रदेश के अस्पतालों को सक्षम बनाने, संबंधित अधिकारियों को ऐसी स्थिति में तुरंत सक्रिय करने व कारगर व्यवस्था करने का सवाल बना रहेगा. इस पूरी स्थिति पर राज्य सरकार को निर्णय लेने होंगे. मशरक की घटना के जिम्मेवार लोगों को कड़ी सजा देनी होगी. मिड-डे मील की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए मॉनीटरिंग सिस्टम को दुरुस्त करना होगा. सरकारी अधिकारियों की जिम्मेवारी तय करने के साथ ही पंचायतों, गैर सरकारी संगठनों और समाज की किसी संभावित भूमिका की भी तलाश की जानी चाहिए. प्रदेश के अस्पतालों को भी आपात स्थितियों के मद्देनजर हर समय तैयार रहने के लिए जरूरी व्यवस्था करनी होगी. और निश्चित रूप से चूंकि यह योजना केंद्र प्रायोजित है, इसलिए केंद्र सरकार को भी इस दृष्टि से नीतियां तैयार करनी होंगी. उन्हें कार्यान्वित करना होगा. हर स्तर पर कमजोरियों को दूर करने के उपाय करने होंगे, तभी हम बच्चों के बेहतर स्वास्थ्य व बेहतर शिक्षा, जिसके लिए यह मिड-डे मील योजना शुरू की गयी है, के लक्ष्य को पा सकेंगे.

बोधि वृक्ष

चेतन और अचेतन मन

हमारी समस्या यह है कि हम अपने विश्वास के, अपने ज्ञान के बोझ से दबे हुए हैं, उससे बंधे हुए हैं. क्या मेरे या आपके एक व्यक्ति के तौर पर इस समाज में जीना, फिर भी जिन विश्वासों में हम पले हैं उनसे मुक्त रहना, संभव है? क्या मन के लिए इस समस्त ज्ञान से, समूची वैचारिक सत्ता से मुक्त होना संभव है? हम शास्त्रों, धार्मिक पुस्तकों को पढ़ते हैं. उनमें समझाया गया है कि हमें क्या करना है, क्या नहीं करना है, लक्ष्य कैसे प्राप्त करना है, लक्ष्य है क्या, और ईश्वर क्या है?

आपको यह सब मुंहजबानी याद है और आपने उसका अनुशीलन भी किया है. यही आपका ज्ञान है, यही है जो आपने उपलब्ध किया है, यही है जो आपने सीखा है; उसी मार्ग का आप अनुसरण कर रहे हैं. अब आप जो खोज रहे हैं, वही पा लेंगे. लेकिन क्या वह यथार्थ होगा? क्या वह स्वयं आपके ज्ञान का प्रक्षेपण भर नहीं है? वह यथार्थ नहीं है. क्या इसका अभी, किसी और दिन नहीं बल्कि अभी, एहसास होना संभव है ताकि हम कह सकें, 'मैंने इसकी सच्चाई देख ली है', और इसे वहीं छोड़ दें, गिर जाने दें, जिससे कि कल्पना की इस प्रक्रिया से, इससे प्रक्षेपण से आपका मन पंगु न हो. आपका मन विश्वास से तभी मुक्त हो सकता है जब आप विश्वास करने के लिए मजबूर करने वाले कारणों की अंदरूनी सच्चाई को समझ लेते हैं, जब आप न केवल चेतन बल्कि अचेतन प्रेरकों को भी समझ जाते हैं जो आपको विश्वास करने के लिए बाध्य करते हैं. आखिरकार हम कोई सतही हस्ती भर नहीं हैं जो बस चेतन स्तर पर ही कार्य करती है. यदि हम अचेतन मन को एक अवसर दें तो हम गहनतम चेतन और अचेतन गतिविधियों का पता लगा सकेंगे, क्योंकि प्रत्युत्तर देने में अचेतन मन चेतन की अपेक्षा अधिक तीव्रगामी होता है.

■ **जे कृष्णमूर्ति**

संज्ञा-शून्य समाज में बार गर्ल्स

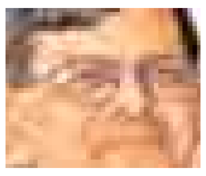

■ **प्रमोद जोशी**
वरिष्ठ पत्रकार
pjoshi23@gmail.com

अमीर बच्चों की रेव पार्टियां मनोरंजन का विद्रूप है. फर्क सिर्फ इतना है कि बार गर्ल्स आजीविका के लिए नाचती हैं और अमीर बच्चों की रेव पार्टियां उनकी लाइफ स्टाइल है.

पिछले कुछ वर्षों से लोकसभा और विधानसभा चुनावों में एक नया चलन देखने को मिल रहा है. चुनाव सभाओं में भीड़ जुटाने के लिए नेताओं के भाषण के पहले लड़कियों का नाच कराया जाता है. इन लड़कियों को अब बार गर्ल्स कहा जाने लगा है. पुराने नामों के मुकाबले हालांकि यह शालीन नाम है, पर यह नाच हमारी संस्कृति के पाखंड की परतों में छिपा है. कौन मजबूर करता है इन्हें नाचने के लिए? और फिर कौन उन पर फब्तियां कसता है? कौन उन्हें धिक्कारता है और कौन उन पर पाबंदियां लगाता है? किसने रोका है उन्हें एक सम्मानित नागरिक बनने से?

सुप्रीम कोर्ट ने बार डांसरों के अधिकार को बरकरार रखते हुए महाराष्ट्र सरकार की याचिका भले खारिज कर दी, पर कहना मुश्किल है कि डांस बार शुरू हो पायेंगे. जैसा कि महाराष्ट्र के गृहमंत्री आरआर पाटील ने कहा है कि हम इसके बाद अदालत जाने या कानून में बदलाव करने के बारे में विचार करेंगे. सरकार इन लड़कियों की इस बात से सहमत नहीं है कि उन्हें अपनी आजीविका का अधिकार है. वह बारों के बंद होने के कारण लगभग 75,000 बार डांसरों के पुनर्वास के लिए भी कुछ करने को तैयार नहीं है. बेशक इन लड़कियों का नाचना उनके लिए भी दिक्कत तलब था. अश्लील इशारे, फब्तियां और दुर्व्यवहार इसमें भी था. पर यह सब उन्हें तब भी मर्यादित लगता था. सरकार कहती है कि लाइसेंस 345 थे और बार चलते थे इससे कई गुना ज्यादा. पर यह गलती किसकी थी? सच यह है कि पाबंदी लगने के बाद बड़ी संख्या में लड़कियों को वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी, जिससे बचाने का दावा किया जा रहा था. जिसके लिए डांस बार बंद किये गये थे.

संविधान के अनुच्छे 19 अनुसार व्यक्ति को आजीविका का अधिकार है. पर सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में इस अनुच्छेद के तहत आजीविका के सवाल को छुआ नहीं है. बार डांसरों ने दलील दी थी कि पुलिस का आदेश उनके प्रति भेदभावपूर्ण होने के अलावा आजीविका कमाने के उनके अधिकार का हनन है. उन्होंने यह दलील भी दी थी कि वह आजीविका चलाने के लिए नृत्य के अलावा वे कोई दूसरा हुनर नहीं जानतीं. पर संविधान में मौलिक अधिकारों के साथ उन पर पाबंदियां भी हैं. अश्लीलता और वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देने वाली आजीविका भी सांविधानिक नहीं है. इसे परिभाषित करना भी आसान नहीं. बार गर्ल्स आम तौर पर हिंदी फिल्मों के गीतों पर डांस करती रही हैं. उनका डांस कितना अश्लील या कितना शालीन होता है, इसे लेकर मतभेद है. और ऐसे डांस मुंबई के डांस बार में ही नहीं होते थे. ये गांव-गांव में होते रहे हैं. पर इन्हें हम उस आधुनिक संस्कृति से जोड़ते हैं, जो मुंबई, पुणे, बेंगलुरु और दिल्ली की रेव पार्टियों में प्रकट हो रही है. हैरत इस बात पर है कि यह पाबंदी तीन सितारा या उससे ऊपर के होटलों पर नहीं है. यानी कि समाज के प्रवर वर्ग के मनोरंजन के मानदंड अलग हैं.

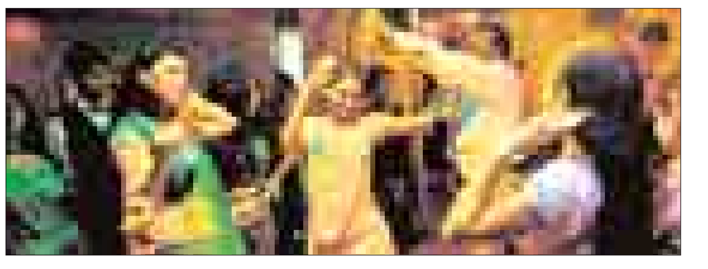

पिछले इतवार को दिल्ली के पास गुड़गांव में 14-15 साल के सौ से ज्यादा लड़के-लड़कियां ऐसी ही रेव पार्टी में पकड़े गये. इस अपसंस्कृति के बुनियादी कारणों पर जाये बगैर इसका समाधान संभव नहीं है. बार डांसरों पर पाबंदी की मांग करने वाले काफी राजनेताओं का रिश्ता महाराष्ट्र के चीनी उद्योग से है, जो परोक्ष रूप से शराब उद्योग से जुड़ता है. यह राजनीति किस कदर अनैतिकताओं से लिपटी है, कौन नहीं जानता? तब वह चीथड़ा हो चुकी नैतिकताओं के पीछे क्यों पड़ी है?

मुंबई में शराब, जुए, सेक्स और माफिया की संस्कृति कैसे विकसित हो गयी? एक जमाने में यहां मद्य निषेध था. फिर इसकी जगह परमिट व्यवस्था आयी. धीरे-धीरे इस व्यवस्था के साथ दूसरी रंग-रेलियां आयीं. डांस बार की संस्कृति भी मुंबई की ईजाद है. 1985-86 में यहां 24 डांस बार थे. 21 जुलाई 2005 को जब लंबी बहस के बाद विधानसभा ने आम राय से डांस बार पर पाबंदी लगाने का फैसला किया उस समय 345 लाइसेंसी डांस बार थे. गैर लाइसेंसी डांस बारों की संख्या 1500 से 2500 के बीच बतायी जाती है.

मुंबई में डांस करने वाली अधिकतर लड़कियां बाहर से आती हैं. एक तो परंपरागत परिवार हैं जिनमें नाच-गाने का पेशा होता है. फिर गरीब घरों की लड़कियां हैं, जो किसी वजह से बेआसरा हो जाती हैं. मुंबई में डांस बार खुलने से उन्हें अपेक्षाकृत सम्मानित काम मिलने लगा. बड़ी संख्या में लड़कियां केवल नाच कर अपने परिवार की आजीविका चलाने लगीं. वेश्यावृत्ति तब भी थी और अब भी है, पर उस स्थिति में काफी लड़कियों के सामने विकल्प था. उनका जीवन उस गलीज जीवन से बेहतर था, जो बैन लगने के बाद शुरू हुआ. बार डांस का कारोबार चलने लगा तो सरकार ने लाइसेंसों की दरें बढ़ा कर कमाई बढ़ायी. फिर हफ्तेदारों ने कमाई बढ़ायी. सोने की मुर्गी की तरह डांस बार नेताओं, अफसरों और अपराधियों की आंखों में चढ़ गये. इसके बाद इस कारोबार को खत्म करने का सिलसिला शुरू हुआ.

बार गर्ल्स के हितों के लिए लड़नेवाली वकील फ्लेविया एग्नेस ने 2005 में बार डांस पर पाबंदी लगाते वक्त विधानसभा में हुई बहस का जो विवरण दिया है, उससे पता लगता है कि स्त्रियों के प्रति जन प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण किस प्रकार का है. एक सदस्य ने अपने मित्र की बेटी का विवरण दिया, जिसे काम नहीं मिल पाया तो उसने आत्महत्या कर ली थी. उन्होंने कहा, बार में डांस करने से बेहतर है मर जाना. इस बात पर सदन में तालियां पिटीं. आम राय थी कि भरतनाट्यम और कथक के अलावा सब कुछ बैन कर दिया जाना चाहिए. लड़कियों के लिए संदेश था- गरीब घर में पैदा हुई हो तो बेहतर है मर जाओ. सदन में तमिल, तेलुगू और अंगरेजी फिल्मों को कोसा गया, हिंदी फिल्मों को नहीं. जब लड़कियों के पुनर्वास की बात आयी तो मराठी-गैरमराठी का सवाल भी उठा. पाखंड का हर रंग इस कहानी में है.

बार गर्ल्स आधुनिक समाज की देन नहीं हैं. हमारे परंपरागत समाज से निकली हैं. उन्हें नया परिधान पहनाया गया है. हाल में दिल्ली गैंगरेप के बाद देश में काफी शोर मचा. स्त्रियों को लेकर हमारी समझ में खोट है. पवित्रतावादी समझ पाखंडी है. अमीर बच्चों की रेव पार्टियां मनोरंजन का विद्रूप है. फर्क सिर्फ इतना है कि बार गर्ल्स आजीविका के लिए नाचती हैं और अमीर बच्चों की रेव पार्टियां उनकी लाइफ स्टाइल है. बार गर्ल्स के सामने जिंदगी को चलाये रखने की चुनौती है, जिसमें कोई मददगार नहीं. बार में नाचना उन्हें वेश्यावृत्ति से ज्यादा मर्यादित लगता है. यह काम बंद होने से वेटरों, खानसामों, दरबानों, बाउंसरों, ड्राइवरों, मेकअप कलाकारों, जैसे लोगों का धंधा भी खत्म हुआ. एक गलतफहमी पैदा की गयी कि यह धंधा सारी समस्याओं की जड़ है. संस्कृति-रक्षकों को वेश्याओं तक से हमदर्दी है, बार गर्ल्स से नहीं. बेशक समाधान बार खोलना नहीं है, पर बंद करना भी नहीं. समाधान है उस पाखंड का खात्मा, जो नैतिकता को घिस कर उसका चंदन लगाता है.

गरीबी के आंकड़ों का सच

■ **धर्मेंद्र कुमार**
निदेशक, इंडिया एफडीआइ वॉच
delhi@prabhatkhabar.in

देश में गरीब और गरीबी रेखा दोनों ऐसे मुद्दे हैं, जो हमेशा से बहस का विषय बनते रहे हैं. इतना जरूर था कि पहले यह बहस सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक हलकों में नजर आती थी, सरकारी शोध और आंकड़ों में नजर आती थी. लेकिन जब से योजना आयोग ने गरीबी रेखा को लेकर सुप्रीम कोर्ट में अपनी रिपोर्ट पेश की है, तब से गरीबी और इससे जुड़े सवाल आम लोगों के बीच भी बहस का मुद्दा बनने लगे हैं.

यह कहना गलत नहीं होगा गरीबी पर एनएसएसओ की ताजा रिपोर्ट इसी बहस का नतीजा है. नेशनल सैंपल सर्वे ऑर्गनाइजेशन (एनएसएसओ) की रिपोर्ट के मुताबिक 2004-05 से 2011-12 के आठ वर्षों के बीच देश में गरीबी की दर 15 प्रतिशत तक कम हुई है. यानी कमी दो प्रतिशत सालाना की है. यह कमी मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में आयी है. इस आंकड़े के पीछे कई कारण हैं. राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में इन कारणों की जड़ें हैं.

इन आठ वर्षों के दौरान देश के विकास की दर (हालांकि यह शहरी स्तर पर रही) कुछ ठीक रही. शहरों के विकास की वजह से गांवों के लोगों का शहरों की ओर जाना मजबूरी बनी. इस दौरान गरीबी का शहरीकरण हुआ, जिसके कारण ही ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की दर कुछ कम हो गयी.

पिछले दिनों एनएसएसओ ने ही एक और रिपोर्ट जारी की थी कि देश में बेरोजगारी कुछ बढ़ी है. यानी एक तरफ बेरोजगारी बढी, तो दूसरी ओर गरीबी में कमी आयी. यह आंकड़ा विरोधाभास पैदा करता है. लेकिन, इस विरोधाभास में ही इसकी वजह भी है. जब बेरोजगारी बढ़ती है तो धीरे-धीरे प्रति व्यक्ति उपभोग में गिरावट आती है. यह गिरावट गरीबी को यथास्थिति में रखने में सहायक बनती है. साथ ही शहर गये लोगों की कमाई का कुछ पैसा गांव आने से ऐसा लगने लगता है कि वहां गरीबी की दर में कमी हुई. गांवों के जो गरीब थे, वे शहर में चले आये, इससे हुआ यह कि शहरों में गरीबों की संख्या में वृद्धि हो गयी. यही वजह है कि एनएसएसओ की रिपोर्ट के मुताबिक शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी स्तर में कमी आयी है.

इस रिपोर्ट के अध्ययन के बाद लगता है कि यह चुनाव से पहले एक तरह से आंकड़ों की बाजीगरी है. क्योंकि ऐसे सर्वेक्षणों के आधार पर ही केंद्र राज्यों के लिए बजट आवंटित करता है. एक और बात यह कि यह आंकड़ा राष्ट्रीय स्तर पर है, जबकि देश में कई बीमारू राज्य हैं, जहां विकास कम हुआ है और वहां ज्यादा गरीबी है. रिपोर्ट के मुताबिक यह आंकड़ा बिहार, ओड़िशा, राजस्थान और मध्य प्रदेश के लिए ज्यादा है. गौरतलब है कि जो विकसित राज्य हैं वहां की मात्र दो तिहाई जनसंख्या के पास बीपीएल कार्ड है, जबकि कम विकसित राज्यों में इससे बड़ी जनसंख्या के पास बीपीएल कार्ड है. ऐसे में अगर कम विकसित राज्यों के आंकड़ों पर गौर करें, तो कई विरोधाभास नजर आयेंगे. मेरा मानना है कि केंद्र सरकार की अपेक्षा राज्य सरकारें गरीबी की दर और अन्य सामाजिक प्रक्षेत्रों की स्थिति के बारे में ज्यादा अच्छे तरीके से बता सकती हैं. इसके आंकड़े के आधार पर ही उनके लिए योजनाएं बनायी जानी चाहिए.

ऐसे में इन आंकड़ों के दो गंभीर परिणाम हो सकते हैं. पहला यह कि पिछड़े राज्यों के फेडरल फ्रंट बनाने की जो बात चल रही और ये राज्य गरीबी के आधार पर केंद्र विशेष पैकेज को लेकर लगातार जो दबाव बनाये हुए है, उसको धक्का लग सकता है. क्योंकि इन आंकड़ों के आलोक में बीमारू राज्यों की राजनीतिक मांग खारिज हो सकती है. केंद्र को यह कहने का मौका मिल गया है कि ऐसे राज्यों में गरीबी की दर दिनोंदिन कम हो रही है, तो फिर ज्यादा बजट की जरूरत ही क्या है! दूसरा यह कि यह आंकड़ा देश में गंभीर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिणामों को जन्म दे सकता. इससे डेवलपमेंटल इनजस्टिस बढ़ेगा. इसलिए केंद्र सरकार को चाहिए कि सिर्फ एनएसएसओ या राष्ट्रीय स्तर पर आयी ऐसी रिपोर्टों के आधार पर राज्यों के लिए बजट आवंटित न करे.

देश में गरीबी की दर घटने को लेकर लोगों की यह धारणा कुछ हद तक सही हो सकती है कि केंद्र द्वारा चलायी जा रही मनरेगा जैसी योजनाओं का इस आंकड़े में योगदान है. लेकिन इन योजनाओं से कितना और किस तरह गरीबी दर में कमी आ रही है, यह दावा एक तरह के विवाद को ही जन्म दे रहा है, क्योंकि ऐसी योजनाओं के क्रियान्वयन और इनमें भ्रष्टाचार पर अकसर सवाल उठता रहा है. सही तथ्य तक पहुंचने के लिए अभी और भी अध्ययन करने की जरूरत है.

(बातचीत : वसीम अकरम)

पूरी दुनिया में कुचले जा रहे हैं 'कुत्ते के बच्चे'

■ **सत्य प्रकाश चौधरी**
प्रभात खबर, रांची
satyajournalist@gmail.com

बस यूं ही

कुछ जीव-जंतु लोकल होते हैं और कुछ ग्लोबल. मसलन, शेर एक लोकल जानवर है, जो गिनी-चुनी जगहों पर पाया जाता है. हिंदुस्तान में तो ऐसी सिर्फ एक जगह है. आप ठीक समझे, वह गुजरात है. यहां तक कि इस सूबे का मुखिया भी 'शेर' है. लेकिन, जैसे काबुल में सिर्फ घोड़े नहीं पाये जाते, वहां गधे भी होते हैं. इसी तरह, गुजरात में भी 'शेर' के साथ-साथ 'कुत्ते के बच्चे' भी पाये जाते हैं. 'कुत्ते का बच्चा' और उसका खानदान गुजरात तक महदूद नहीं, वह ग्लोबल है. यानी दुनिया के हर कोने में पाया जाता है और हर जगह कुचला जाता है. उसके कुचले जाने पर अधिक से अधिक 'च् च्' किया जा सकता है, पर इसके लिए सजा की बात करना बेमानी है.

अब अमेरिका को ही ले लीजिए. वहां एक 'कुत्ते के बच्चे' को एक 'मर्द-बच्चे' ने बस यूं ही गोली से उड़ा दिया. यह कोई गुनाह तो था नहीं, बस छोटा-मोटा 'हादसा' था, इसलिए 'मर्द-बच्चे' को बाइज्जत बरी कर दिया गया. उन मूर्खों का क्या किया जाये, जिन्होंने मुगालता पाल लिया था कि इंसाफ के लिए 'मर्द-बच्चे' को सूली चढ़ा दिया जायेगा और अब ऐसा नहीं होने पर बेवजह बवाल काट रहे हैं! इतनी दूर क्यों जायें, अपने यहां तमिलनाडु में एक 'कुत्ते के बच्चे' ने अपने से ऊंची बिरादरी में शादी कर ली. नतीजा यह हुआ कि उसे कुत्ते की मौत मार दिया गया. एक बार फिर इंसाफपसंद हल्ला मचा रहे हैं, पर वे भूल रहे हैं कि कुत्ते को मारना कोई जुर्म नहीं है. चलिए, थोड़ा और नजदीक की बात करते हैं. समझ में नहीं आता कि 'कुत्ते के बच्चे' स्कूल क्यों जाते हैं. बेवजह सरकार की आफत बढ़ाते हैं. भाई, पढ़ाई तो वहां होती नहीं, सिर्फ खिचड़ी मिलती है. ऐसे स्कूल में जाने से कोई न्यूटन या आइंस्टीन तो बन नहीं जायेगा. पर 'कुत्ते के बच्चे' मानते कहां हैं! स्कूल में टूटे पड़ते हैं. देखिए नतीजा, जहरीली खिचड़ी खाकर छपरा में करीब दो दर्जन साफ हो गये. अब लोग विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं, पर भूल रहे हैं कि कुत्तों को मारना गुनाह नहीं है.

दुनिया के विभिन्न इलाकों में इन 'कुत्तों' के नाम, जाति-धर्म, रंग, नस्ल अलग-अलग हो सकते हैं. पर जो बात इनमें साझा है, वह यह कि सभी मजलूम हैं. अगर ये एक हो जायें, तो दुनिया हिल उठे. इसलिए इन्हें आपस में लड़ाया जाता है. बावजूद इसके, अगर ये अपने हक की आवाज उठायें, तो इन्हें लाठी-गोली से खामोश करने के लिए सरकारों ने 'शिकारी कुत्ते' पाल रखे हैं, जिनका कहर कभी बिगहा, फारबिसगंज में टूटता है, तो कभी तपकरा, बस्तर में. 'कुत्ते' इस हद तक कुचले जाते हैं कि इन्हें अपनी जिल्लत का एहसास खत्म हो जाता है. जिस दिन इनमें यह एहसास जगा, फैज के लफ्ज हकीकत बन जायेंगे- *ये चाहें तो दुनिया को अपना बना लें/ ये आकाओं की हड्डियां तक चबा लें.*

पाठक मत

भौतिकता का मारा समाज

खास पत्र

मीतू सिन्हा ■ हजारीबाग

सुबह हुई, अखबार खोला. खबरें पढ़ीं- पति ने पत्नी को मार डाला, महिला ने दो बच्चों के साथ की खुदकुशी, युवा ने की आत्महत्या. आखिर इन खबरों के पीछे कारण क्या हैं? क्यों आज का युवा वर्ग इतना हताश है? क्यों वह अपने प्राण लेना चाहता है. शर्मिंदा होने के लिए तो कई कारण हैं, जैसे पारिवारिक तनाव, शिक्षा में असफलता या टूटते प्रेम संबंध. लेकिन, क्या इन्हीं कारणों की आड़ में हम अपनी जिम्मेदारी से भाग सकते हैं? क्या हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं बनती, क्या हमें नहीं जानना चाहिए कि इतनी सारी मौतों का कारण क्या है?

कहीं ये आज का भौतिकतावाद तो नहीं, जो लोगों को हत्या/आत्महत्या जैसे जघन्य पाप के लिए प्रेरित कर रहा है. आज की बुनियादी आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा और मकान से आगे बढ़ चुकी हैं. मोबाइल जैसे उपकरण आज की बुनियादी आवश्यकता बन चुके हैं. पहले जो भी आत्महत्या की इक्का-दुक्का घटनाएं होती थीं, उनकी सूचना अखबार के माध्यम से मिलती थी. लेकिन, अब पूरे सूचना तंत्र में आत्महत्या की खबरें छायी रहती हैं. बढ़ी हुई जरूरतें पूरी नहीं कर पाने की मजबूरी हताशा का रूप ले लेती है, जो परिणत होती है आत्महत्या में. इसके और भी भयावह परिणाम होते हैं- पत्नी की मांग पूरा न कर सकने की स्थिति में पति मांग के मूल को ही खत्म कर देना चाहता है, औरत अपने बच्चों की मांग पूरी नहीं कर पाने की स्थिति में उन्हें खत्म कर अपनी जीवनलीला भी समाप्त कर लेती है. आखिर यह खेल कब तक चलेगा? यदि सरकार ने भौतिकतावाद को बढ़ावा दिया है, तो आमदनी बढ़ाने का भी जरिया बनाये. भौतिकता को विकास का आधार माननेवाली सरकार को इसकी हद भी तय करनी होगी, क्योंकि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का सूत्र सार्वभौमिक है.

लीजिए पुरस्कार

पत्र-लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए हम सर्वश्रेष्ठ पत्र लेखकों को पुरस्कृत करते हैं. आपके पत्रों का स्वागत है. पत्र में फोन नंबर भी दें.

पोस्ट करें : प्रभात खबर
15 पी-1, इंडस्ट्रीयल
एरिया, कोकर, रांची 834001

मेल करें : इ-मेल संक्षिप्त व हिंदी में हों लिपि रोमन भी हो सकती है. *eletter@prabhatkhabar.in*

फैक्स करें :
0651-2544006 पर

तब आरटीआइ का ढकोसला क्यों?

सूचना का अधिकार (आरटीआइ) के दायरे में बीसीसीआइ आ सकती है. खेल विधेयक के नये मसौदे में कहा गया है कि जो भी खेल संघ आरटीआइ के दायरे में नहीं आयेंगे, उन्हें 'इंडिया' या 'भारत' का इस्तेमाल नहीं करने दिया जायेगा. लेकिन इसी मसौदे में इसका तोड़ भी मौजूद है. मसौदे की धारा- जी कहती है कि किसी भी खेल संघ से उसकी वाणिज्यिक गोपनीयता, ट्रेड सीक्रेट और बौद्धिक संपदा से जुड़े ऐसे मुद्दों पर सवाल पूछने का अधिकार नहीं होगा, जिससे बाजार में प्रतिस्पर्धा के लिहाज से उसका नुकसान हो. यानी आरटीआइ में व्यावसायिक पहलुओं से जुड़े सवाल नहीं पूछ पायेंगे. जबकि पहले से भी कुछ छूटें थीं, जिसमें टीम का चयन, सपोर्ट स्टाफ का चयन या हटाना, खिलाड़ियों की चोट व फिटनेस आदि के अलावा डोपिंग टेस्ट के नतीजे के बारे में आरटीआइ दायर नहीं की जा सकती. अब प्रश्न यह है कि आखिर आप बीसीसीआइ से कुछ जानकारी लेना चाहें तो वह क्या होगी. जाहिर है कि यह प्रावधान बीसीसीआइ के अनुरूप नजर आ रहा है. आखिर यह आरटीआइ का ढकोसला क्यों?

अरविंद कुमार ■ ई-मेल से

झारखंड को प्रयोगशाला न बनायें

झारखंड हमेशा से राजनीतिक अस्थिरता का शिकार होता आया है. राज्य में तीन बार राष्ट्रपति शासन और आठ बार सरकार में बदलाव का अनुभव झेल चुकी जनता के सामने 13 साल की अल्पायु में 9वें मुख्यमंत्री के रूप हेमंत सोरेन की ताजपोशी ने राज्य की राजनीतिक स्थिरता को पुनः खतरे में डाल दिया है. वर्तमान में राज्य की स्थिति श्रीहरिकोटा और पोखरण जैसी हो गयी है, जहां से साल-दो साल में कोई न कोई मिसाइल प्रयोग के लिए प्रक्षेपित की जाती है. कभी मधु कोड़ा को, तो कभी शिबू सोरेन को राजनीतिक मिसाइल के रूप में प्रयोग किया गया. दोनों छोड़े तो गये थे, लेकिन लक्ष्य को भेद न पाने का मलाल है. राजनीतिक दल चाहे राष्ट्रीय हों या क्षेत्रीय, सभी ने पिछले 12वर्षों में, राज्य को राजनीतिक प्रक्षेपण केंद्र तथा राजनीति के लिए चरागाह बना दिया. इस बार हेमंत सोरेन को मिसाइल के रूप में कांग्रेस द्वारा परोक्ष रूप से लांच किया गया है. इस नयी सरकार से आम जनता का कुछ भला नहीं होगा. हां, निश्चित रूप से राज्य खनिज संपदा की लूट की छूट का अखाड़ा बन जयेगा.

विश्वनाथ मुर्मू ■ जमशेदपुर

लोकतंत्र के इलाज में निभायें अपनी भूमिका

अभी कुछ दिनों पहले ही भारत में चुनाव सुधार के लिए देश के माननीय सर्वोच्च न्यायालय का आदेश आया कि किसी जन-प्रतिनिधि को दो साल की सजा होते ही उसकी सदस्यता उसी दिन से रद्द कर दी जाये. यह आदेश स्वागत-योग्य है. साथ ही, लोकतंत्र में आस्था रखनेवाले देशवासियों के मन में भी वर्षों से चुनाव सुधार की दिशा में एक विचार आता रहा है. मैं चाहता हूं कि यह विचार इस मंच पर रखूं, ताकि इस पर विमर्श हो सके. यह भी चाहूंगा कि ज्यादा से ज्यादा लोग इस विचार पर अपनी राय अवश्य प्रकट करें. जब से होश संभाला है तब से देख रहा हूं कि भारत में होनेवाले चुनावों में भारत की आधी से ज्यादा आबादी हिस्सा ही नहीं लेती और इसमें रोचक, किंतु चिंतनीय पक्ष यह है कि चुनाव में हिस्सा न लेनेवाले लोग व्यवस्था पर सदा चीखते-चिल्लानेवाले लोग हैं. ऐसे लोग राग तो हमेशा कोढ़ का अलापते हैं, मगर इलाज वाले दिन (इस संदर्भ में चुनाववाले दिन) अस्पताल जाते ही नहीं और फिर परिणाम आते ही दोबारा चीखने-चिल्लाने लग जाते हैं कि हाय इलाज नहीं हुआ या फिर गलत इलाज हो गया! अब इसका जिम्मेवार कौन है?

राजीव थेपरा ■ रांची

आवास संबंधी अदालती फैसला सराहनीय

माननीय उच्चतम न्यायालय का हाल का फैसला कि सरकारी आवास समय पर खाली हों, एक स्वागतयोग्य फैसला है. क्योंकि अक्सर देखा जाता है कि सेवानिवृत्ति के बाद सरकारी पदाधिकारी, सरकारी आवास समय पर खाली नहीं करते हैं. हमारे मंत्री, सांसद व विधायक आदि भी पीछे नहीं हैं, क्योंकि वे भी पद से हटने के पश्चात, सरकारी आवास समय पर खाली नहीं करते हैं, इसलिए माननीय उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय कि सरकारी पदाधिकारी और कर्मचारी को सेवानिवृत्ति के तीन माह पूर्व नोटिस (सूचना) भेज दिया जाये कि सेवानिवृत्ति के पश्चात सरकारी आवास खाली हो जाये और ऐसा नहीं करनेवाले पदाधिकारियों व कर्मचारियों के विरुद्ध बल का भी प्रयोग किया जा सकता है. दूसरी ओर, मंत्री, सांसद व विधायक तो पद से हटने के पश्चात भी सरकारी आवास खाली नहीं करते हैं, इसलिए माननीय उच्चतम न्यायालय के फैसले के बाद देखना है कि कितने मंत्री, सांसद और विधायक आदि इस फैसले को मानते हैं और केंद्र सरकार व राज्य सरकारें इस संबंध में क्या ठोस प्रक्रिया अपनाती हैं.

डॉ भुवन मोहन ■ हिनू, रांची

इनकी सुनिए

दूरसंचार क्षेत्र में सौ प्रतिशत एफडीआइ से देश की सुरक्षा पर गंभीर खतरा पैदा हो सकता है.

ममता बनर्जी, मुख्यमंत्री, पश्चिम बंगाल

यह भी कहा कि यह फैसला गरीबी से जूझ रही आम जनता के लिए घातक साबित होगा.

मैं कभी भी सभी लोकसभा सीटों पर अपने प्रत्याशी उतार सकता हूं, लेकिन कोई राजनीतिक पद नहीं लेना चाहता.

बाबा रामदेव, योग गुरु

लखनऊ में युवा भारत कार्यकर्ता सम्मेलन में कहा कि कांग्रेस सिर्फ चुनाव के समय मुसलिमों को पुचकारती है.